भिखारी सारी दुनिया

प्रफुल्ल कोलख्यान

दुनिया में कोई मुझ-सा गरीब न हो, गरीब हो तो कोई मुझ-सा बदनसीब न हो। दाता एक राम है और भिखारी सारी दुनिया; उद्योग सघन गोमो-बरवाडीह रेल लाइन के बरकाकाना रेल स्टेशन पर करुण आवाज में एक भीखमंगे को देखकर निराला जी की भिक्षुक कविता स्मृति में कौंध गई। निराला की कविता भिक्षुक में ग्रामीण संवेदना के साथ जिस भिक्षुक की दशा का वर्णन मिलता है वह निश्चित रूप से शहरी और औद्यागिक भिक्षुक ही था। भिखारियों का यह नया वर्ग था। औद्योगिक नगरों और बाजार के विस्तार के पहले इस तरह के भिखारी नहीं हुआ करते थे। गुरूकुल में पढ़नेवाले छात्र और पढ़ानेवाले गुरूजी दोनों ही भीख माँगते थे। करतल भिक्षा और तरुतल वास का कारण अनिवार्यत: गरीबी ही नहीं हुआ करती थी। बौद्ध-श्रमण बौद्ध-भिक्षु भी कहलाते थे। बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी भीख माँगते थे जिसका स्वरूप संभवत: आज के चंदे की तरह का हुआ करता होगा।

मध्य काल में जब खटकर खानेवालों की जमात से गृहस्थ किस्म के साधू-संतों का आविर्भाव हुआ तब यह जरूर कहा गया कि उनको आदर की दृष्टि से देखने की आवश्यकता नहीं है जो खुद तो भीख माँग कर जीवन निर्वाह करते हैं और दूसरों को ज्ञान बाँटते हैं। भिखारियों को दयनीय दृष्टि से देखने की शुरूआत तब भी नहीं हुई थी। गरीबी से भीख का अनिवार्य रिश्ता नहीं था। आज भी नहीं है। सामान्यत: भिखारी गरीब होते हैं। लेकिन अधिकतर संपन्न लोग यह मानकर चलते हैं कि गरीब लोग भिखारी होते हैं। बात ऐसी नहीं है।

गरीबी की परिभाषा क्या है? किसे गरीब कहते हैं? यह कोई आसान सवाल नहीं है। अर्थ शास्त्र के पंडितों में इसकी परिभाषा या अवधारणा को लेकर मतैक्य नहीं है। मोली ओर्शान्सकी इसे व्यक्ति के अपने विवेकबोध से जोड़कर देखने पर जोर देते हैं तो एरिक हॉब्स्म इसे समाज की परंपराओं से जोड़कर देखने का आग्रह रखते हैं। मार्क्स जीवन में अंतर्निहित ऐतिहासिक नैतिक तत्त्व के संतोषजनक पारंपरिक निर्वाह से गरीबी की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। गरीबी की शास्त्रीय व्याख्याएँ कई प्रकार से भले ही की जा सकती हो लेकिन एहसासे कमतरी से हर हाल में उसका संबंध बना रहता है। मनुष्य

चाहे कितना ही योग्य क्यों न हो कहीं-न-कहीं उसकी योग्यता अपने किसी-न-किसी जरूरी काम के लिए कम अवश्य ही पड़ जाती है। मनुष्य अपने धन से दूसरे की योग्यता खरीद कर अपनी ऐसी अयोग्यताओं की क्षतिपूर्ति करता है। जिसके पास जितना धन है वह अपनी अयोग्यताओं को उतना कम कर लेने में कामयाब होता है। एक तरफ यह बात है तो दूसरी ओर यह बात भी है कि जिसके पास जितनी योग्यता है उसे बेच कर वह उतना धन कमा लेता है। योग्यता और धन यद्यपि न तो एक दूसरे के पर्याय हैं और न एक दूसरे से विस्थापनीय तथापि योग्यता और धन में सीधा और प्रतिपारस्परिकता का संबंध होता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखने लायक बात है कि व्यक्ति की योग्यता हो कि उसका धन उसके स्वामित्व के अर्जन का सवाल पूर्णत: व्यक्ति आश्रित ही नहीं हुआ करता है। इसमें समाज और राज दोनों की जबर्दस्त भूमिका हुआ करती है। आज समाज और राज दोनों ही अपनी इस भूमिका से कन्नी काटने के चक्कर में लगे हुए हैं। बहुत पहले 1967 में ही, रघुवीर सहाय ने अपने कविता संग्रह 'आत्म हत्या के विरुद्ध' के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में हमें लक्षित करवा दिया था कि 'लोकतंत्र -- मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इन्सान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।' क्योंकि उन्हीं के शब्दों में लोक कलयाणकारी राज्य का रहस्य अंतत: यही है कि 'मनुष्य के कल्याण के लिए / पहले उसे इतना भूखा रखो कि वह और कुछ / सोच न पाए / फिर उससे कहो कि तुम्हारी पहली जरूरत रोटी है / जिसके लिए वह गुलाम होना भी मंजूर कर लेगा (गुलामी 1972 :एक समय था)।'

विज्ञान के विकास के साथ मनुष्य की क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। वह कल तक जिस चीज और स्थिति की कल्पना मात्र कर सकता था वह आज उसके लिए यथार्थ में उपलब्ध है। जीवन का कोई भी क्षेत्र विज्ञान की उपलब्धि की इस परिधि से बाहर नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य के लिए उपलब्धि की अपार संभावनाओं के द्वार खोले हैं। इस सच के बावजूद उसका कष्ट कहीं से कम नहीं हो पा रहा है। समग्र और व्यक्ति स्तर पर उपलब्धि और अनुपलब्धि के ऐसे मर्मांतक अंतराल से मनुष्य का पाला इसके पहले शायद ही कभी पड़ा हो। दैनंदिन की आवश्यकताओं के अनुपात में इतनी वृद्धि हो गई है कि आवश्यकताओं का वास्तविक वर्गीकरण ही अप्रासंगिक-सा हो गया है। आज प्रत्येक स्तर के व्यक्ति की आवश्यकताएँ एक-सी हो गई प्रतीत होती है। जबकि उनकी आर्थिक और अनार्थिक हैसियत में अंतराल किसी प्रकार से कम नहीं हुआ है, बल्कि पहले की तुलना में बहुत अधिक बढ़ा ही है।

संचार माध्यमों में आये अभूतपूर्व विस्तार की कृपा और तथाकथित सूचना के विस्फोट से वस्तु के विपणन-विज्ञापन की जो आँधी चली है उसमें आदमी के जीवन निर्वाह की वास्तविक जरूरतें तो उड़ गई और नकली जरूरतों के अंबार के तले उसका अस्तित्व,

सत्व और स्वत्व सब कुछ दब कर तहस-नहस हो गया है। जरूरत के इस नये संदर्भ में गरीबी और सामाजिक परंपरा के अंतस्संबंध को मिला कर देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि कैसे बाजार नई-नई सामाजिक परंपराओं की शुरूआत कर गरीबी बढ़ाने के एक कारक के रूप में भी काम करता है। गरीबी की आत्मनिष्ठ संकल्पना और व्यक्ति के विवेकबोध से उसके मानसिक संबंध का लगाव भी स्पष्ट हो जाता है। इसलिए आज गरीबी हटाने की बात बेमानी हो गई है। गरीबी सब समय मनुष्य के साथ रहनेवाली मन:स्थिति के रूप में व्याख्यायित की जा रही है। अमर्त्य कुमार सेन की संकल्पना परम अभाव या निरपेक्ष गरीबी से मुक्ति की लड़ाई और संघर्ष में व्यक्ति निरंतर अकेला पड़ता चला जा रहा है। किसी के पास कुछ भी -- धन हो कि संवेदना -- अधिशेष या सरप्लस नहीं है।

बाहर बहुत तेजी से फैलते हुए बाजार का विचार हमें गरीब और भीतर का बेलगाम लालच भिखारी बना रहा है। ऐसा लगता है कि सचमुच सारी दुनिया भिखारी हो गयी है। ऐसे में महात्मा गाँधी की याद आना सहज स्वाभाविक है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही चेताया था कि हमें अपनी आवश्यकताओं को शून्याभिमुख बनाये रखना चाहिए। हो सकता है इस चेतावनी में कुछ अतिरंजना और अव्यवहारिकता हो लेकिन बात पते की थी।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान